

श्रीमद् भगवद् गीता

अध्याय एवं विषयों का अनुक्रम

प्रथम अध्याय: अर्जुन विषाद योग 7

दोनों सेनाओं के प्रधान-प्रधान शूरवीरों की गणना और सामर्थ्य का कथन	7
दोनों सेनाओं की शंख-ध्वनि का कथन	7
अर्जुन द्वारा सेना-निरीक्षण का प्रसंग	7
मोह से व्याप्त हुए अर्जुन के कायरता, स्नेह और शोकयुक्त वचन	8

दूसरा अध्याय: सांख्ययोग 9

अर्जुन की कायरता के विषय में श्री कृष्णार्जुन-संवाद	9
सांख्ययोग का विषय	9
क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता का निरूपण	10
कर्मयोग का विषय	10
स्थिर बुद्धि पुरुष के लक्षण और उसकी महिमा	11

तीसरा अध्याय: कर्म योग 12

ज्ञानयोग और कर्मयोग के अनुसार अनासक्त भाव से नियत कर्म करने की श्रेष्ठता का निरूपण	12
यज्ञादि कर्मों की आवश्यकता का निरूपण	13
ज्ञानवान और भगवान के लिए भी लोकसंग्रहार्थ कर्मों की आवश्यकता	13
अज्ञानी और ज्ञानवान के लक्षण तथा राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करने के लिए प्रेरणा	13
काम के निरोध का विषय	14

चौथा अध्याय: ज्ञानकर्म संन्यास योग 15

सगुण भगवान का प्रभाव और कर्मयोग का विषय	15
योगी महात्मा पुरुषों के आचरण और उनकी महिमा	15
फलसहित पृथक्-पृथक् यज्ञों का कथन	16
ज्ञान की महिमा	16

पांचवां अध्याय: कर्म संन्यास योग 17

सांख्ययोग और कर्मयोग का निर्णय	17
सांख्ययोगी और कर्मयोगी के लक्षण और उनकी महिमा	17
ज्ञानयोग का विषय	17
भक्ति सहित ध्यानयोग का वर्णन	18

छठा अध्याय: आत्म संयम योग 18

कर्मयोग का विषय और योगारूढ़ पुरुष के लक्षण	18
आत्म-उद्धार के लिए प्रेरणा और भगवत्प्राप्त पुरुष के लक्षण	19
विस्तार से ध्यान योग का विषय	19
मन के निग्रह का विषय	20
योगभ्रष्ट पुरुष की गति का विषय और ध्यानयोगी की महिमा	20

सातवां अध्याय: ज्ञान विज्ञान योग 21

विज्ञान सहित ज्ञान का विषय	21
----------------------------------	----

संपूर्ण पदार्थों में कारण रूप से भगवान की व्यापकता का कथन.....	21
आसुरी स्वभाव वालों की निंदा और भगवद्भक्तों की प्रशंसा	21
अन्य देवताओं की उपासना का विषय	22
भगवान के प्रभाव और स्वरूप को न जानने वालों की निंदा और जानने वालों की महिमा	22
आठवां अध्याय: अक्षरब्रह्म योग	22
ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के सात प्रश्न और उनका उत्तर.....	22
भक्ति योग का विषय.....	23
शुक्ल और कृष्ण मार्ग का विषय	23
नवां अध्याय: राजविद्या राजगुह्य योग	24
प्रभावसहित ज्ञान का विषय	24
जगत की उत्पत्ति का विषय	24
भगवान का तिरस्कार करने वाले आसुरी प्रकृति वालों की निंदा और देवी प्रकृति वालों के भगवद् भजन का प्रकार	24
सर्वात्म रूप से प्रभाव सहित भगवान के स्वरूप का वर्णन	24
सकाम और निष्काम उपासना का फल	25
निष्काम भगवद् भक्ति की महिमा	25
दसवां अध्याय: विभूतियोग	26
भगवान की विभूति और योगशक्ति का कथन तथा उनके जानने का फल.....	26
फल और प्रभाव सहित भक्तियोग का कथन.....	26
अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति तथा विभूति और योगशक्ति को कहने के लिए प्रार्थना.....	26
भगवान द्वारा अपनी विभूतियों और योगशक्ति का कथन	27
ग्यारहवां अध्याय: विश्वरूप दर्शन योग	28
विश्वरूप के दर्शन हेतु अर्जुन की प्रार्थना.....	28
भगवान द्वारा अपने विश्व रूप का वर्णन	28
संजय द्वारा धृतराष्ट्र के प्रति विश्वरूप का वर्णन	29
अर्जुन द्वारा भगवान के विश्वरूप का देखा जाना और उनकी स्तुति करना.....	29
भगवान द्वारा अपने प्रभाव का वर्णन और अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित करना	30
भयभीत हुए अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति और चतुर्भुज रूप का दर्शन कराने के लिए प्रार्थना.....	30
भगवान द्वारा अपने विश्वरूप के दर्शन की महिमा का कथन तथा चतुर्भुज और सौम्य रूप का दिखाया जाना.....	31
बिना अनन्य भक्ति के चतुर्भुज रूप के दर्शन की दुर्लभता का और फलसहित अनन्य भक्ति का कथन।	31
बारहवां अध्याय: भक्ति योग	31
साकार और निराकार के उपासकों की उत्तमता का निर्णय और भगवत्प्राप्ति के उपाय का विषय	31
भगवत्-प्राप्त पुरुषों के लक्षण	32
तेरहवां अध्याय: क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग	32
ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विषय.....	32
ज्ञानसहित प्रकृति-पुरुष का विषय	33
चौदहवां अध्याय: गुणत्रयविभागयोग	34
ज्ञान की महिमा और प्रकृति-पुरुष से जगत् की उत्पत्ति.....	34
सत्, रज, तम- तीनों गुणों का विषय.....	34

भगवत्प्राप्ति का उपाय और गुणातीत पुरुष के लक्षण	35
पन्द्रहवां अध्याय: पुरुषोत्तम योग 35	
संसार वृक्ष का कथन और भगवत्प्राप्ति का उपाय	35
जीवात्मा का विषय.....	36
प्रभाव सहित परमेश्वर के स्वरूप का विषय.....	36
क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम का विषय.....	36
सोलहवां अध्याय: दैवासुर संपद्विभाग योग 37	
फलसहित दैवी और आसुरी संपदा का कथन	37
आसुरी संपदा वालों के लक्षण और उनकी अधोगति का कथन	37
शास्त्रविपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्रानुकूल आचरणों के लिए प्रेरणा.....	38
सत्रहवां अध्याय: श्रद्धात्रय विभाग योग 38	
श्रद्धा और शास्त्रविपरीत घोर तप करने वालों का विषय	38
आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक-पृथक भेद	38
ॐ तत्सत् के प्रयोग की व्याख्या	39
अठारहवां अध्याय: मोक्ष संन्यास योग 39	
त्याग का विषय	39
कर्मों के होने में सांख्यसिद्धांत का कथन	40
तीनों गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के पृथक-पृथक भेद	40
फल सहित वर्ण धर्म का विषय	41
ज्ञाननिष्ठा का विषय.....	42
भक्ति सहित कर्मयोग का विषय.....	42
श्री गीताजी का माहात्म्य.....	42

More Sanatan Dharm Resources and Books in Hindi:
सनातन धर्म के अन्य मूल ग्रंथों का हिन्दी रूपांतरण:
Archieve.org - सनातन धर्म

प्रथम अध्याय: अर्जुन विषाद योग

दोनों सेनाओं के प्रधान शूरवीर

धृतराष्ट्र बोले

हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित युद्ध की इच्छावाले मेरे पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?

संजय बोले

उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखकर और द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा: हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिये। (3)

इस सेना में बड़े-बड़े धनुषों वाले तथा युद्ध में भीम और अर्जुन के समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान काशीराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी, युधामन्यु तथा बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र ये सभी महारथी हैं। (4,5,6)

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अपने पक्ष में भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिए। आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ। (7)

आप, द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा। (8)

और भी मेरे लिए जीवन की आशा त्याग देने वाले बहुत से शूरवीर अनेक प्रकार के अस्त्रों-शस्त्रों से सुसज्जित और सब के सब युद्ध में चतुर हैं। (9)

भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की यह सेना जीतने में सुगम है। (10)

इसलिए सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सभी निःसंदेह भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें। (11)

सेनाओं द्वारा शंख-ध्वनि

संजय बोले

कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंह की दहाड़ के समान गरजकर शंख बजाया। (12)

इसके पश्चात शंख और नगारे तथा ढोल, मृदंग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ। (13)

इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाये। (14)

श्रीकृष्ण महाराज ने पाञ्चजन्य नामक, अर्जुन ने देवदत्त नामक और भयानक कर्मवाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। (15)

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पकनामक शंख बजाये। (16)

श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज और महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदी के पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु-इन सभी ने, हे राजन ! सब ओर से अलग-अलग शंख बजाये। (17,18)

और उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी गुंजाते हुए धार्तराष्ट्रों के अर्थात् आपके पक्ष वालों के हृदय विदीर्ण कर दिये। (19)

अर्जुन द्वारा सेना-निरीक्षण का अनुरोध

हे राजन ! इसके बाद कपिध्वज अर्जुन ने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र सम्बन्धियों को देखकर, उस शस्त्र चलाने की तैयारी के समय धनुष उठाकर (20)

हृषिकेश श्रीकृष्ण महाराज से यह वचन कहा:

अर्जुन बोले

हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए। (21)

और जब तक कि मैं युद्धक्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओं को भली प्रकार देख न लूँ कि इस युद्धरूप व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है, तब तक उसे खड़ा रखिये। (22)

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में हित चाहने वाले जो-जो ये राजा लोग इस सेना में आये हैं, इन युद्ध करने वालों को मैं देखूँगा। (23)

संजय बोले

हे धृतराष्ट्र ! अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्र ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने उत्तम रथ को खड़ा करके इस प्रकार कहा कि हे पार्थ ! युद्ध के लिए जुटे हुए इन कौरवों को देख। (24,25)

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों सेनाओं में स्थित ताऊ-चाचों को, दादों-परदादों को, गुरुओं को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को भी देखा। उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओं को देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणा से युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले। (26,27,28)

मोह से व्याप्त हुए अर्जुन के कायरता, स्नेह और शोकयुक्त वचन

अर्जुन बोले

हे कृष्ण ! युद्धक्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इस स्वजन-समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्प और रोमांच हो रहा है। (28,29)

हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित हो रहा है, इसलिए मैं खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूँ। (30)

हे केशव ! मैं लक्ष्मणों को भी विपरीत देख रहा हूँ तथा युद्ध में स्वजन-समुदाय को मारकर कल्याण भी नहीं देखता। (31)

हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखों को ही। हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्य से क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगों से और जीवन से भी क्या लाभ है? (32)

हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं। (33)

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं। (34)

हे मधुसूदन ! मुझे मारने पर भी अथवा तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या? (35)

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा। (36)

अतएव हे माधव ! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने ही कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? (37)

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोष को और मित्रों से विरोध करने में पाप को नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन ! कुल के नाश से उत्पन्न दोष को जाननेवाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए? (38, 39)

कुल के नाश से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म के नाश हो जाने पर सम्पूर्ण कुल में पाप भी बहुत फैल जाता है। (40)

हे कृष्ण ! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। (41)

वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जल की क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पण से वंचित इनके पितर लोग भी अधोगति को प्राप्त होते हैं। (42)

इन वर्णसंकरकारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुल धर्म और जाति धर्म नष्ट हो जाते हैं। (43)

हे जनार्दन ! जिनका कुलधर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्यों का अनिश्चित काल तक नरक में वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं। (44)

हा ! शोक ! हम लोग बुद्धिमान होकर भी महान पाप करने को तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुख के लोभ से स्वजनों को मारने के लिए उद्यत हो गये हैं। (45)

यदि मुझ शस्त्ररहित और सामना न करने वाले को शस्त्र हाथ में लिए हुए धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा। (46)

संजय बोले:

रणभूमि में शोक से उद्विग्न मन वाले अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गये। (47)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में 'अर्जुनविषादयोग' नामक प्रथम अध्याय संपूर्ण हुआ।

दूसरा अध्याय: सांख्ययोग

अर्जुन की कायरता के विषय में श्री कृष्णार्जुन-संवाद

संजय बोले

उस प्रकार करुणा से व्याप्त और आँसूओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले शोकयुक्त उस अर्जुन के प्रति भगवान मधुसूदन ने ये वचन कहा। (1)

श्री भगवान बोले

हे अर्जुन ! तुझे इस असमय में यह मोह किस हेतु से प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्ति को करने वाला ही है। इसलिए हे अर्जुन ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा। (2,3)

अर्जुन बोले

हे मधुसूदन ! मैं रणभूमि में किस प्रकार बाणों से भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं। (4)

इसलिए इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ, क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूँगा। (5)

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना और न करना – इन दोनों में से कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे मुकाबले में खड़े हैं। (6)

इसलिए कायरतारूप दोष से उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिए कहिए क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिए आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिए। (7) क्योंकि भूमि में निष्कण्टक, धन-धान्यसम्पन्न राज्य को और देवताओं के स्वामीपने को प्राप्त होकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके। (8)

संजय बोले

संजय बोले: हे राजन ! निद्रा को जीतने वाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज के प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्री गोविन्द भगवान से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये। (9)

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज ने दोनों सेनाओं के बीच में शोक करते हुए उस अर्जुन को हँसते हुए से यह वचन बोले। (10)

सांख्ययोग का विषय

श्री भगवान बोले

हे अर्जुन ! तू न शोक करने योग्य मनुष्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों के जैसे वचनों को कहता है, परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिए भी पण्डितजन शोक नहीं करते। (11)

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। (12)

जैसे जीवात्मा की इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है, उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता। (13)

हे कुन्तीपुत्र ! सदी-गर्मी और सुख-दुःख देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं, इसलिए हे भारत ! उसको तू सहन कर। (14)

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य होता है। (15)

असत् वस्तु की सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषों द्वारा इन दोनों का ही तत्त्व देखा गया है। (16)

नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश करने में भी कोई समर्थ नहीं है। (17)

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गये हैं। इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर। (18)

जो उस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है। (19)

यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता है। (20)

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है? (21)

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है। (22)

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, इसको आग जला नहीं सकती, इसको जल गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। (23)

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्या, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापि, अचल स्थिर रहने वाला और सनातन है। (24)

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन ! इस आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जानकर तू शोक करने के योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है। (25)

किन्तु यदि तू इस आत्मा को सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरने वाला मानता है, तो भी हे महाबाहो ! तू इस प्रकार शोक करने को योग्य नहीं है। (26)

क्योंकि इस मान्यता के अनुसार जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है। इससे भी इस बिना उपाय वाले विषम में तू शोक करने के योग्य नहीं है। (27)

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मरने के बाद भी अप्रकट हो जाने वाले हैं, केवल बीच में ही प्रकट है फिर ऐसी स्थिति में क्या शोक करना है? (28)

कोई एक महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्व का आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता। (29)

हे अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीरों में सदा ही अवध्य है। इस कारण सम्पूर्ण प्राणियों के लिए तू शोक करने के योग्य नहीं है। (30)

क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता का निरूपण

तथा अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिए क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। (31)

हे पार्थ ! अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वाररूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय लोग ही पाते हैं। (32)

किन्तु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा। (33)

तथा सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति भी कथन करेंगे और माननीय पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर है। (34)

और जिनकी दृष्टि में तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध में हटा हुआ मानेंगे। (35)

तेरे वैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुझे बहुत से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे। उससे अधिक दुःख और क्या होगा? (36)

या तो तू युद्ध में मारा जाकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा संग्राम में जीतकर पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इस कारण हे अर्जुन ! तू युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा। (37)

कर्मयोग का विषय

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर, उसके बाद युद्ध के लिए तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा। (38)

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी और अब तू इसको कर्मयोग के विषय में सुन, जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन को भलीभाँति त्याग देगा अर्थात् सर्वथा नष्ट कर डालेगा। (39)

इस कर्मयोग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्म का थोड़ा सा भी साधन जन्म मृत्युरूप महान भय से रक्षा कर लेता है। (40)

हे अर्जुन ! इस कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है, किन्तु अस्थिर विचार वाले विवेकहीन सकाम मनुष्यों की बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोवाली और अनन्त होती हैं। (41)

हे अर्जुन ! जो भोगों में तन्मय हो रहे हैं, जो कर्मफल के प्रशंसक वेदवाक्यों में ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्ग से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है- ऐसा कहने वाले हैं, वे अविवेकी जन इस प्रकार की जिस पुष्पित अर्थात् दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहा करते हैं जो कि जन्मरूप कर्मफल देने वाली और भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की बहुत सी क्रियाओं का वर्णन करने वाली है, उस वाणी द्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषों की परमात्मा में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती। (42, 43, 44)

हे अर्जुन ! वेद उपर्युक्त प्रकार से तीनों गुणों के कार्यरूप समस्त भोगों और उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं, इसलिए तू उन भोगों और उनके साधनों में आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित योग-क्षेम को न चाहने वाला और स्वाधीन अन्तःकरण वाला हो। (45)

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्म को तत्त्व से जानने वाले ब्राह्मण का समस्त वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है। (46)

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उनके फलों में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो। (47)

हे धनंजय ! तू आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित हुआ कर्तव्यकर्मों को कर, समत्वभाव ही योग कहलाता है। (48)

इस समत्व बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है। इसलिए हे धनंजय ! तू समबुद्धि में ही रक्षा का उपाय ढूँढ अर्थात् बुद्धियोग का ही आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फल के हेतु बनने वाले अत्यन्त दीन हैं। (49)

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है। इससे तू समत्वरूप योग में लग जा। यह समत्वरूप योग ही कर्मों में कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धन से छूटने का उपाय है। (50)

क्योंकि समबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से मुक्त हो निर्विकार परम पद को प्राप्त हो जाते हैं। (51)

जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूप दलदल को भली भाँति पार कर जायेगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने में आने वाले इस लोक और परलोकसम्बन्धी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जायेगा। (52)

भाँति-भाँति के वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मा में अचल और स्थिर ठहर जायेगी, तब तू योग को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् तेरा परमात्मा से नित्य संयोग हो जायेगा।

स्थिर बुद्धि पुरुष के लक्षण और उसकी महिमा

अर्जुन बोले

हे केशव ! समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है? (54)

श्री भगवान बोले

हे अर्जुन ! जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भली भाँति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। (55)

दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन पर उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

जो पुरुष सर्वत्र स्नेह रहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है। (57)

और जैसे कछुवा सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों के सब प्रकार से हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है।

इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुष की तो आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है। (59)

हे अर्जुन ! आसक्ति का नाश न होने के कारण ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी बलात् हर लेती हैं। (60)

इसलिए साधक को चाहिए कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे, क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर हो जाती है। (61)

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। (62)

क्रोध से अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है। (63)

परन्तु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वश में की हुई, राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है। (64)

अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर परमात्मा में ही भली भाँति स्थिर हो जाती है। (65)

न जीते हुए मन और इन्द्रियों वाले पुरुष में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है? (66)

क्योंकि जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है। (67)

इसलिए हे महाबाहो ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है। (68)

सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जो रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति में स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि के समान है। (69)

जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं। (70)

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममतारहित, अहंकार रहित और स्पृहा रहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्ति को प्राप्त है। (71)

हे अर्जुन ! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है। इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकाल में भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है। (72)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद्गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

तीसरा अध्याय: कर्म योग

ज्ञानयोग और कर्मयोग के अनुसार अनासक्त भाव से नियत कर्म करने की श्रेष्ठता का निरूपण

अर्जुन बोले

हे जनार्दन ! यदि आपको कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं? (1)

आप मिले हुए वचनों से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिए उस एक बात को निश्चित करके कहिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। (2)

श्री भगवान बोले

हे निष्पाप ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमें से सांख्ययोगियों की निष्ठा तो ज्ञानयोग से और योगियों की निष्ठा कर्मयोग से होती है। (3)

मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता को यानि योगनिष्ठा को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्यागमात्र से सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठा को ही प्राप्त होता है। (4)

निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।

जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है। (6)

किन्तु हे अर्जुन ! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है। (7)
तू शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा। (8)

यज्ञादि कर्मों की आवश्यकता का निरूपण

यज्ञ के निमित्त किये जाने कर्मों के अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मनुष्य समुदाय कर्मों से बँधता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य कर्म कर। (9)
प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो। (10)
तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभाव से एक-दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे। (11)
यज्ञ के द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुम लोगों को बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओं के द्वारा दिये हुए भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है। (12)
यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और पापी लोग अपना शरीर-पोषण करने के लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं। (13)
सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होने वाला है। कर्मसमुदाय को तू वेद से उत्पन्न और वेद को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। (14,15)
हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार परम्परा से प्रचलित सृष्टिचक्र के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है। (16)

ज्ञानवान और भगवान के लिए भी लोकसंग्रहार्थ कर्मों की आवश्यकता

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है। (17)
उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता। (18)
इसलिए तू निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्यकर्म को भली भाँति करता रह क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। (19)
जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। इसलिए तथा लोकसंग्रह को देखते हुए भी तू कर्म करने को ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है। (20)
श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसके अनुसार बरतने लग जाता है। (21)
हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य है न ही कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म में ही बरतता हूँ। (22)
क्योंकि हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मों में न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाए, क्योंकि मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। (23)
इसलिए यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायें और मैं संकरता का करने वाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ। (24)

अज्ञानी और ज्ञानवान के लक्षण तथा राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करने के लिए प्रेरणा

हे भारत ! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्ति रहित विद्वान भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे। (25)
परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह शास्त्रविहित कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे। (26)
वास्तव में सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। (27)

परन्तु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्व को जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण-ही-गुणों में बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता। (28)

प्रकृति के गुणों से अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणों में और कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझने वाले मन्दबुद्धि अज्ञानियों को पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे। (29)

मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर। (30)

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टि से रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं। (31)

परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खों को तू सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहित और नष्ट हुए ही समझ। (32)

सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभाव के परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं। फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा। (33)

इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान शत्रु हैं। (34)

अच्छी प्रकार आचरण में लाये हुए दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है। (35)

काम के निरोध का विषय

अर्जुन बोले

हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुए की भाँति किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है? (36)

श्री भगवान बोले

रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खाने वाला अर्थात् भोगों से कभी न अघाने वाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषय में वैरी जान। (37)

जिस प्रकार धुँएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है। (38)

और हे अर्जुन ! इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होने वाले कामरूप ज्ञानियों के नित्य वैरी के द्वारा मनुष्य का ज्ञान ढका हुआ है। (39)

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि – ये सब वास स्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है। (40)

इसलिए हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले महान पापी काम को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल। (41)

इन्द्रियों को स्थूल शरीर से पर यानि श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म कहते हैं। इन इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है। (42)

इस प्रकार बुद्धि से पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डाल। (43)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में 'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय संपूर्ण हुआ।

चौथा अध्याय: ज्ञानकर्म सन्यास योग

सगुण भगवान का प्रभाव और कर्मयोग का विषय

श्री भगवान बोले

मैंने इन अविनाशी योग को सूर्य से कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा। (1)
हे परंतप अर्जुन ! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्तप्राय हो गया। (2)
तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिए यह पुरातन योग आज मैंने तुझे कहा है, क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है। (3)

अर्जुन बोले

आपका जन्म तो अर्वाचीन – अभी हाल ही का है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्प के आदि में हो चुका था। तब मैं इस बात को कैसे समझूँ कि आप ही ने कल्प के आदि में यह योग कहा था? (4)

श्री भगवान बोले

हे परंतप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ। (5)
मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को आधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ। (6)
हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ। (7)
साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ। (8)
हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं – इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्व से जान लेता है, वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है। (9)
पहले भी जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्य प्रेमपूर्वक स्थिर रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहने वाले बहुत से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। (10)
हे अर्जुन ! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ, क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। (11)
इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन किया करते हैं, क्योंकि उनको कर्मों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है। (12)
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – इन चार वर्णों का समूह, गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि – रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू वास्तव में अकर्ता ही जान। (13)
कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिए मुझे कर्म लिप्त नहीं करते – इस प्रकार जो मुझे तत्त्व से जान लेता है, वह भी कर्मों से नहीं बँधता। (14)
पूर्वकाल में मुमुक्षुओं ने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं इसलिए तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किये जाने वाले कर्मों को ही कर। (15)
कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? – इस प्रकार इसका निर्णय करने में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिए वह कर्मतत्त्व में तुझे भली भाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त हो जाएगा। (16)
कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है। (17)
जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है। (18)

योगी महात्मा पुरुषों के आचरण और उनकी महिमा

जिसके सम्पूर्ण शास्त्र-सम्मत कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं। (19)

जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भली भाँति बरतता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता। (20)

जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियों के सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगों की सामग्री का परित्याग कर दिया है, ऐसा आशरहित पुरुष केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापों को नहीं प्राप्त होता। (21)

जो बिना इच्छा के अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों में सर्वथा अतीत हो गया है – ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता। (22)

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतारहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है – ऐसा केवल यज्ञसम्पादन के लिए कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म भली भाँति विलीन हो जाते हैं। (23)

फलसहित पृथक-पृथक यज्ञों का कथन

जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् सुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है – उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किये जाने वाले योग्य फल भी ब्रह्म ही है। (24)

दूसरे योगीजन देवताओं के पूजनरूप परब्रह्मा परमात्मारूप अग्नि में अभेददर्शनरूप यज्ञ के द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं। (25)

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों को संयमरूप अग्नियों में हवन किया करते हैं और दूसरे लोग शब्दादि समस्त विषयों को इन्द्रियरूप अग्नियों में हवन किया करते हैं। (26)

दूसरे योगीजन इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं को और प्राण की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयम योगरूप अग्नि में हवन किया करते हैं। (27)

कई पुरुष द्रव्य-सम्बन्धी यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही तपस्वरूप यज्ञ करने वाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करने वाले हैं। (28)

दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपानवायु को हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणायाम-परायण पुरुष प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणों को प्राणों में ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों को जानने वाले हैं। (29,30)

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञ से बचे हुए अमृतरूप अन्न का भोजन करने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं और यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिए तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है? (31)

इसी प्रकार और भी बहुत तरह के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गये हैं। उन सबको तू मन इन्द्रिय और शरीर की क्रिया द्वारा सम्पन्न होने वाला जान। इस प्रकार तत्त्व से जानकर उनके अनुष्ठान द्वारा तू कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाएगा। (32)

ज्ञान की महिमा

हे परंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं। (33)

उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भली भाँति दण्डवत प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म-तत्त्व को भली भाँति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे। (34)

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञान के द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को निःशेषभाव से पहले अपने में और पीछे मुझे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में देखेगा। (35)

यदि तू अन्य सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौका द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्र से भलीभाँति तर जायेगा। (36)

क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देती है। (37)

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग के द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने आप ही आत्मा में पा लेता है। (38)

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के, तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। (39)

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है। (40)

हे धनंजय ! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर दिया है और जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे वश में किये हुए अन्तःकरण वाले पुरुष को कर्म नहीं बाँधते। (41)

इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन ! तू हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशय का विवेकज्ञानरूप तलवार द्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोग में स्थित हो जा और युद्ध के लिए खड़ा हो जा। (42)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चतुर्थ अध्याय संपूर्ण हुआ।

पांचवां अध्याय: कर्म संन्यास योग

सांख्ययोग और कर्मयोग का निर्णय

अर्जुन बोले

अर्जुन बोले: हे कृष्ण ! आप कर्मों के संन्यास की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इसलिए इन दोनों साधनों में से जो एक मेरे लिए भली भाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये। (1)

श्री भगवान बोले

कर्मसंन्यास और कर्मयोग – ये दोनों ही परम कल्याण के करने वाले हैं, परन्तु उन दोनों में भी कर्मसंन्यास से कर्मयोग साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है। (2)

हे अर्जुन ! जो पुरुष किसी से द्वेष नहीं करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है। (3)

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोग को मूर्ख लोग पृथक्-पृथक् फल देने वाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनों में से एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फलस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। (4)

ज्ञानयोगियों द्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही यथार्थ देखता है। (5)

परन्तु हे अर्जुन ! कर्मयोग के बिना होने वाले संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूप को मनन करने वाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। (6)

सांख्ययोगी और कर्मयोगी के लक्षण और उनकी महिमा

जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरण वाला तथा सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्म ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। (7)

तत्त्व को जानने वाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रहीं हैं – इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ। (8,9)

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता। (10)

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। (11)

कर्मयोगी कर्मों के फल का त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर बँधता है। (12)

ज्ञानयोग का विषय

अन्तःकरण जिसके वश में है ऐसा सांख्ययोग का आचरण करने वाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारों वाले शरीर रूपी घर में सब कर्मों का मन से त्याग कर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है। (13)

परमेश्वर मनुष्यों के न तो कर्तापन की, न कर्मों की और न कर्मफल के संयोग की रचना करते हैं, किन्तु स्वभाव ही बरत रहा है। (14)

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभ कर्म को ही ग्रहण करता है, किन्तु अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसी से सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं। (15)

परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्मा के तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा को प्रकाशित कर देता है। (16)

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही जिनकी निरन्तर एकीभाव से स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति को अर्थात् परम गति को प्राप्त होते हैं। (17)

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी होते हैं। (18)

जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थित हैं। (19)

जो पुरुष प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशय रहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है। (20)

बाहर के विषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरण वाला साधक आत्मा में स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है। तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के ध्यानरूप योग में अभिन्नभाव से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है। (21)

जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं तो भी दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिए हे अर्जुन ! बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता। (22)

जो साधक इस मनुष्य शरीर में, शरीर का नाश होने से पहले-पहले ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है। (23)

जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुख वाला है, आत्मा में ही रमण करने वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त सांख्योगी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है। (24)

जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभाव से परमात्मा में स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (25)

काम क्रोध से रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। (26)

भक्ति सहित ध्यानयोग का वर्णन

बाहर के विषय भोगों को न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रों की दृष्टि को भुकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है। (27,28)

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों का सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है। (29)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में 'कर्मसंन्यास योग' नामक पाँचवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

छठा अध्याय: आत्म संयम योग

कर्मयोग का विषय और योगारूढ़ पुरुष के लक्षण

श्री भगवान बोले

जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं है। (1)

हे अर्जुन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग जान, क्योंकि संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता। (2)

योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में निष्कामभाव से कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष का जो सर्वसंकल्पों का अभाव है, वही कल्याण में हेतु कहा जाता है। (3)

जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस काल में सर्वसंकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है। (4)

आत्म-उद्धार के लिए प्रेरणा और भगवत्प्राप्त पुरुष के लक्षण

अपने द्वारा अपना संसार-समुद्र से उद्धार करें और अपने को अधोगति में न डालें, क्योंकि यह मनुष्य, आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। (5)

जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्मा का तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिए वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता में बरतता है। (6)

सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख आदि में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ भली भाँति शांत हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुष के ज्ञान में सच्चिदानन्दघन परमात्मा, सम्यक् प्रकार से ही स्थित है अर्थात् उसके ज्ञान में परमात्मा के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। (7)

जिसका अन्तःकरण ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकार रहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भली भाँति जीती हुई हैं और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसा कहा जाता है। (8)

सुहृद्, मित्र, वैरी उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणों में, धर्मात्माओं में और पापियों में भी समान भाव रखने वाला अत्यन्त श्रेष्ठ है। (9)

मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने वाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित होकर आत्मा को निरन्तर परमात्मा लगावे। (10)

विस्तार से ध्यान योग का विषय

शुद्ध भूमि में, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसन को स्थिर स्थापन करके उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे। (11,12)

काया, सिर और गले को समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित, भयरहित तथा भली भाँति शान्त अन्तःकरण वाला सावधान योगी मन को रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे। (13,14)

वश में किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरन्तर मुझ परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ मुझमें रहने वाली परमानन्द की पराकाष्ठारूप शान्ति को प्राप्त होता है। (15)

हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिल्कुल न खाने वाले का, न बहुत शयन करने के स्वभाववाले का और न सदा ही जागने वाले का ही सिद्ध होता है। (16)

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथा योग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। (17)

अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही भली भाँति स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों से स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है। (18)

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गयी है। (19)

योग के अभ्यास से निरुद्ध चित्त जिस अवस्था में उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में परमात्मा के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही सन्तुष्ट रहता है। इन्द्रियों से अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित यह योगी परमात्मा के स्वरूप से विचलित होता ही नहीं। परमात्मा की प्राप्ति रूप जिस लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता। जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिए। वह योग न उकताए हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है। (20,21,22,23)

संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेषरूप से त्यागकर और मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सभी ओर से भलीभाँति रोककर क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरति को प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे। (24,25)

यह स्थिर न रहने वाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में विचरता है, उस-उस विषय से रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मा में ही निरुद्ध करे। (26)

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। (27)

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्मा को परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूप अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। (28)

सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है। (29)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता। (30)

जो पुरुष एकीभाव में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को भजता है, वह योगी सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझ में ही बरतता है। (31)

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। (32)

मन के निग्रह का विषय

अर्जुन बोले

हे मधुसूदन ! जो यह योग आपने समभाव से कहा है, मन के चंचल होने से मैं इसकी नित्य स्थिति को नहीं देखता हूँ। (33)
क्योंकि हे श्री कृष्ण ! यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, बड़ा दृढ़ और बलवान है। इसलिए उसका वश में करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ। (34)

श्री भगवान बोले

हे महाबाहो ! निःसंदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है। (35)

जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप्य है और वश में किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन से उसका प्राप्त होना सहज है – यह मेरा मत है। (36)

योगभ्रष्ट पुरुष की गति का विषय और ध्यानयोगी की महिमा

अर्जुन बोले

हे श्रीकृष्ण ! जो योग में श्रद्धा रखने वाला है, किंतु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकाल में योग से विचलित हो गया है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत्साक्षात्कार को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है। (37)

हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता? (38)

हे श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशय को सम्पूर्ण रूप से छेदन करने के लिए आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशय का छेदन करने वाला मिलना संभव नहीं है। (39)

श्री भगवान बोले

हे पार्थ ! उस पुरुष का न तो इस लोक में नाश होता है और न परलोक में ही क्योंकि हे प्यारे ! आत्मोद्धार के लिए अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। (40)

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों लोकों को अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षों तक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान पुरुषों के घर में जन्म लेता है। (41)

अथवा वैराग्यवान पुरुष उन लोकों में न जाकर ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है। परन्तु इस प्रकार का जो यह जन्म है, सो संसार में निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है। (42)

वहाँ उस पहले शरीर में संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोग को अर्थात् रामबुद्धि रूप योग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभाव से वह फिर परमात्मा की प्राप्तिरूप सिद्धि के लिए पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करता है। (43)

वह श्रीमानों के घर जन्म लेने वाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहले के अभ्यास से ही निःसंदेह भगवान की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योग का जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को उल्लंघन कर जाता है। (44)

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी तो पिछले अनेक जन्मों के संस्कारबल से इसी जन्म में संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापों से रहित हो फिर तत्काल ही परम गति को प्राप्त हो जाता है। (45)

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है इससे हे अर्जुन तू योगी हो। (46)

सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है। (47)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्ररूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में 'आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय संपूर्ण हुआ।

सातवाँ अध्याय: ज्ञान विज्ञान योग

विज्ञान सहित ज्ञान का विषय

श्री भगवान् बोले

हे पार्थ ! मुझमें अनन्य प्रेम से आसक्त हुए मनवाला और अनन्य भाव से मेरे परायण होकर, योग में लगा हुआ मुझको संपूर्ण विभूति, बल ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त सबका आत्मरूप जिस प्रकार संशयरहित जानेगा उसको सुन। (1)

मैं तेरे लिए इस विज्ञान सहित तत्त्वज्ञान को संपूर्णता से कहूँगा कि जिसको जानकर संसार में फिर कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता है। (2)

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वाले योगियों में भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मुझको तत्त्व से जानता है। (3)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश और मन, बुद्धि एवं अहंकार... ऐसे यह आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृति है। यह (आठ प्रकार के भेदों वाली) तो अपरा है अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो ! इससे दूसरी को मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान कि जिससे यह संपूर्ण जगत् धारण किया जाता है। (4,5)

हे अर्जुन ! तू ऐसा समझ कि संपूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों (परा-अपरा) से उत्पन्न होने वाले हैं और मैं संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूँ अर्थात् संपूर्ण जगत् का मूल कारण हूँ। हे धनंजय ! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण सूत्र में मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है। (6,7)

संपूर्ण पदार्थों में कारण रूप से भगवान् की व्यापकता का कथन

हे अर्जुन ! जल में मैं रस हूँ। चंद्रमा और सूर्य में मैं प्रकाश हूँ। संपूर्ण वेदों में प्रणव(ॐ) मैं हूँ। आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ। पृथ्वी में पवित्र गंध और अग्नि में मैं तेज हूँ। संपूर्ण भूतों में मैं जीवन हूँ अर्थात् जिससे वे जीते हैं वह तत्त्व मैं हूँ तथा तपस्वियों में तप मैं हूँ। (8,9)

हे अर्जुन ! तू संपूर्ण भूतों का सनातन बीज यानि कारण मुझे ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ। (10)

हे भरत श्रेष्ठ ! आसक्ति और कामनाओं से रहित बलवानों का बल अर्थात् सामर्थ्य मैं हूँ और सब भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल काम मैं हूँ। (11)

और जो भी सत्त्वगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं और जो रजोगुण से तथा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, उन सबको तू मेरे से ही होने वाले है ऐसा जान। परन्तु वास्तव में उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं। (12)

आसुरी स्वभाव वालों की निंदा और भगवद्भक्तों की प्रशंसा

गुणों के कार्यरूप (सात्त्विक, राजसिक और तामसिक) इन तीनों प्रकार के भावों से यह सारा संसार मोहित हो रहा है इसलिए इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी को वह तत्त्व से नहीं जानता। (13)

यह अलौकिक अर्थात् अति अदभुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरंतर भजते हैं वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसार से तर जाते हैं। (14)

माया के द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए तथा मनुष्यों में नीच और दूषित कर्म करनेवाले मूढ़ लोग मुझे नहीं भजते हैं। (15)

हे भरतवंशियो में श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी – ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मुझे भजते हैं। (16)

उनमें भी नित्य मुझमें एकीभाव से स्थित हुआ, अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है क्योंकि मुझे तत्त्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है। (17)

ये सभी उदार हैं अर्थात् श्रद्धासहित मेरे भजन के लिए समय लगाने वाले होने से उत्तम हैं परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही हैं ऐसा मेरा मत है। क्योंकि वह मदगत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है। (18)

बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है- इस प्रकार मुझे भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है। (19)

अन्य देवताओं की उपासना का विषय

उन-उन भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है वे लोग अपने स्वभाव से प्रेरित होकर उस-उस नियम को धारण करके अन्य देवताओं को भजते हैं अर्थात् पूजते हैं। (20)

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ। (21)

वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता का पूजन करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त करता है। (22)

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालों का वह फल नाशवान है तथा वे देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अंत में मुझे ही प्राप्त होते हैं। (23)

भगवान के प्रभाव और स्वरूप को न जानने वालों की निंदा और जानने वालों की महिमा

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम, अविनाशी, परम भाव को न जानते हुए, मन-इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानंदघन परमात्मा को मनुष्य की भाँति जानकर व्यक्ति के भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं। (24)

अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए यह अज्ञानी जन समुदाय मुझ जन्मरहित, अविनाशी परमात्मा को तत्त्व से नहीं जानता है अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है। (25)

हे अर्जुन! पूर्व में व्यतीत हुए और वर्तमान में स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतों को मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता। (26)

हे भरतवंशी अर्जुन ! संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोह से संपूर्ण प्राणी अति अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं। (27)

(निष्काम भाव से) श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाला जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषादिजनित द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त और दृढ़ निश्चयवाले पुरुष मुझको भजते हैं। (28)

जो मेरे शरण होकर जरा और मरण से छूटने के लिए यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को तथा संपूर्ण अध्यात्म को और संपूर्ण कर्म को जानते हैं। (29)

जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव के सहित तथा अधियज्ञ के सहित (सबका आत्मरूप) मुझे अंतकाल में भी जानते हैं, वे युक्त चित्तवाले पुरुष मुझको ही जानते हैं अर्थात् मुझको ही प्राप्त होते हैं। (30)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद् भगवद्गीता में श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के संवाद में 'ज्ञानवियोग नामक' सातवाँ अध्याय संपूर्ण।

आठवाँ अध्याय: अक्षरब्रह्म योग

ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के सात प्रश्न और उनका उत्तर

अर्जुन ने कहा

हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत नाम से क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं? (1)

हे मधुसूदन ! यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस शरीर में कैसे हैं? तथा युक्तचित्तवाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं? (2)

श्री भगवान बोले

परम अक्षर 'ब्रह्म' है, अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म' नाम से कहा जाता है तथा भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नाम से कहा गया है। (3)

उत्पत्ति विनाश धर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष अधिदैव हैं और हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीर में मैं वासुदेव ही अन्तर्यामी रूप से अधियज्ञ हूँ। (4)

जो पुरुष अन्तकाल में भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है – इसमें कुछ भी संशय नहीं है। (5)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, उस उसको ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहा है। (6)

इसलिए हे अर्जुन ! तू सब समय में निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा। (7)

भक्ति योग का विषय

हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यासरूप योग से युक्त, दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशरूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है। (8)

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करने वाले, अचिन्तयस्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्या से अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वर का स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकाल में भी योग बल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्यरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है। (9,10)

वेद के जानने वाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परम पद को अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परम पद को चाहने वाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परम पद को मैं तेरे लिए संक्षेप में कहूँगा। (11)

सब इन्द्रियों के द्वारों को रोक कर तथा मन को हृदयदेश में स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मन के द्वारा प्राण को मस्तक में स्थापित करके, परमात्मसम्बन्धी योगधारणा में स्थित होकर जो पुरुष ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है। (12,13)

हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तम को स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ, अर्थात् मैं उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ। (14)

परम सिद्धि को प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखों के घर तथा क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते। (15)

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक सब लोक पुनरावर्ती हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादि के लोक काल के द्वारा सीमित होने से अनित्य हैं। (16)

ब्रह्मा का जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगी तक की अवधिवाला और रात्रि को भी एक हजार चतुर्युगी तक की अवधिवाला जो पुरुष तत्त्व से जानते हैं, वे योगीजन काल के तत्त्व को जानने वाले हैं। (17)

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में अव्यक्त से अर्थात् ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में लीन हो जाते हैं। (18)

हे पार्थ ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृति के वश में हुआ रात्रि के प्रवेशकाल में लीन होता है और दिन के प्रवेशकाल में फिर उत्पन्न होता है। (19)

उस अव्यक्त से भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। (20)

जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नाम से कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्तभाव को परम गति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभाव को प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है। (21)

हे पार्थ ! जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मा से यह समस्त जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है। (22)

शुक्ल और कृष्ण मार्ग का विषय

हे अर्जुन ! जिस काल में शरीर त्याग कर गये हुए योगीजन तो वापस न लौटनेवाली गति को और जिस काल में गये हुए वापस लौटनेवाली गति को ही प्राप्त होते हैं, उस काल को अर्थात् दोनों मार्गों को कहूँगा। (23)

जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता है, दिन का अभिमानी देवता है, शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले जाये जाकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (24)

जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है, रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी उपर्युक्त देवताओं द्वारा क्रम से ले जाया हुआ चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर स्वर्ग में अपने शुभ कर्मों का फल भोगकर वापस आता है। (25)

क्योंकि जगत् के ये दो प्रकार के – शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एक के द्वारा गया हुआ – जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गति को प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा गया हुआ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है। (26)

हे पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गों को तत्त्व से जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता। इस कारण हे अर्जुन ! तू सब काल में समबुद्धिरूप योग से युक्त हो अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्ति के लिए साधन करने वाला हो। (27)

योगी पुरुष इस रहस्य को तत्त्व से जानकर वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, तप और दानादि के करने में जो पुण्यफल कहा है, उन सबको निःसंदेह उल्लंघन कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त होता है। (28)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में 'अक्षरब्रह्मयोग' नामक आठवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

नवां अध्यायः राजविद्या राजगुह्य योग

प्रभावसहित ज्ञान का विषय

श्री भगवान बोले

तुझ दोष दृष्टिरहित भक्त के लिए इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञान को पुनः भली भाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसार से मुक्त हो जाएगा। (1)

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओं का राजा, सब रहस्यों का राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है। (2)

हे परंतप ! इस उपर्युक्त धर्म में श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्र में भ्रमण करते रहते हैं। (3)

मुझ निराकार परमात्मा से यह सब जगत जल से बर्फ से सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्प के आधार स्थित हैं, किन्तु वास्तव में मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। (4)

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं, किन्तु मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख कि भूतों को धारण-पोषण करने वाला और भूतों को उत्पन्न करने वाला भी मेरा आत्मा वास्तव में भूतों में स्थित नहीं है। (5)

जैसे आकाश से उत्पन्न सर्वत्र विचरने वाला महान वायु सदा आकाश में ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्प द्वारा उत्पन्न होने से सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान। (6)

जगत की उत्पत्ति का विषय

हे अर्जुन ! कल्पों के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृति में लीन होते हैं और कल्पों के आदि में उनको मैं फिर रचता हूँ। (7)

अपनी प्रकृति को अंगीकार करके स्वभाव के बल से परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदाय को बार-बार उनके कर्मों के अनुसार रचता हूँ। (8)

हे अर्जुन ! उन कर्मों में आसक्ति रहित और उदासीन के सदृश स्थित मुझ परमात्मा को वे कर्म नहीं बाँधते। (9)

हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाता के सकाश से प्रकृति चराचर सहित सर्व जगत को रचती है और इस हेतु से ही यह संसारचक्र घूम रहा है। (10)

भगवान का तिरस्कार करने वाले आसुरी प्रकृति वालों की निंदा और देवी प्रकृति वालों के भगवद् भजन का प्रकार

मेरे परम भाव को न जानने वाले मूढ़ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ सम्पूर्ण भूतों के महान ईश्वर को तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमाया से संसार के उद्धार के लिए मनुष्यरूप में विचरते हुए मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं। (11)

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को ही धारण किये रहते हैं। (12)

परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! देवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतों का सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मन से युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। (13)

वे दृढ़ निश्चय वाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणों का कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यान में युक्त होकर अनन्य प्रेम से मेरी उपासना करते हैं। (14)

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ज्ञानयज्ञ के द्वारा अभिन्नभाव से पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकार से स्थित मुझ विराटस्वरूप परमेश्वर की पृथक् भाव से उपासना करते हैं। (15)

सर्वात्म रूप से प्रभाव सहित भगवान के स्वरूप का वर्णन

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषधि मैं हूँ, मंत्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ। (16)

इस सम्पूर्ण जगत का धाता अर्थात् धारण करने वाला और कर्मों के फल को देने वाला, पिता माता, पितामह, जानने योग्य, पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। (17)

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करने वाला, सबका स्वामी, शुभाशुभ का देखने वाला, सब का वासस्थान, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करने वाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलय का हेतु, स्थिति का आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ। (18)

मैं ही सूर्यरूप से तपता हूँ, वर्षा का आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत् असत् भी मैं ही हूँ। (19)

सकाम और निष्काम उपासना का फल

तीनों वेदों में विधान किये हुए सकाम कर्मों को करने वाले, सोम रस को पीने वाले, पाप रहित पुरुष मुझको यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्गलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं। (20)

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधनरूप तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म का आश्रय लेने वाले और भोगों की कामना वाले पुरुष बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में आते हैं। (21)

जो अनन्य प्रेम भक्तजन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले पुरुषों को योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ। (22)

हे अर्जुन यद्यपि श्रद्धा से युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, किन्तु उनका पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है। (23)

निष्काम भगवद् भक्ति की महिमा

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ, परन्तु वे मुझ परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानते, इसी से गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं। (24)

देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करने वाले भक्त मुझको प्राप्त होते हैं। इसलिए मेरे भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता। (25)

जो कोई भक्त मेरे लिए प्रेम से पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ। (26)

हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मुझे अर्पण कर। (27)

इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान के अर्पण होते हैं – ऐसे सन्यासयोग से युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धन से मुक्त हो जाएगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा। (28)

मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ। न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है परन्तु जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ। (29)

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझे भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भली भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है। (30)

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। (31)

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि-चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गति को प्राप्त होते हैं। (32)

फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भगवान मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त होते हैं। इसलिए तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर। (33)

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजनकरने वाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्मा को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा। (34)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नौवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ। 19।।

दसवां अध्याय: विभूतियोग

भगवान की विभूति और योगशक्ति का कथन तथा उनके जानने का फल

श्री भगवान बोले

हे महाबाहो ! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचन को सुन, जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवाले के लिए हित की इच्छा से कहूँगा। (1)

मेरी उत्पत्ति को अर्थात् लीला से प्रकट होने को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का भी आदिकरण हूँ। (2)

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तव में जन्मरहित, अनादि और लोकों का महान ईश्वर, तत्त्व से जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानवान पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। (3)

निश्चय करने की शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों का वश में करना, मन का निग्रह तथा सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय तथा अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, कीर्ति और अपकीर्ति – ऐसे ये प्राणियों के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं। (4,5)

सात महर्षिजन, चार उनसे भी पूर्व में होने वाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु – ये मुझमें भाव वाले सब के सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में यह सम्पूर्ण प्रजा है। (6)

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूति को और योगशक्ति को तत्त्व से जानता है, वह निश्चल भक्तियोग से युक्त हो जाता है – इसमें कुछ भी संशय नहीं है। (7)

फल और प्रभाव सहित भक्तियोग का कथन

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत चेष्टा करता है, इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्ति से युक्त बुद्धिमान भक्तजन मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं। (8)

निरन्तर मुझ में मन लगाने वाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं, और मुझ वासुदेव में ही निरन्तर रमण करते हैं। (9)

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। (10)

हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिए उनके अन्तःकरण में स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञान जनित अन्धकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ। (11)

अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति तथा विभूति और योगशक्ति को कहने के लिए प्रार्थना

अर्जुन बोले

आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष और देवों का भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और आप भी मेरे प्रति कहते हैं। (12,13)

हे केशव ! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवान ! आपके लीलामय स्वरूप को न तो दानव जानते हैं और न देवता ही। (14)

हे भूतों को उत्पन्न करने वाले ! हे भूतों के ईश्वर ! हे देवों के देव ! हे जगत के स्वामी ! हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपने-से-अपने को जानते हैं। (15)

इसलिए आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियों को सम्पूर्णता से कहने में समर्थ हैं, जिन विभूतियों के द्वारा आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं। (16)

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन ! आप किन-किन भावों से मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं? (17)

हे जनार्दन ! अपनी योगशक्ति को और विभूति को फिर भी विस्तारपूर्वक कहिए, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् सुनने की उत्कण्ठा बनी ही रहती है। (18)

भगवान् द्वारा अपनी विभूतियों और योगशक्ति का कथन

श्री भगवान् बोले

हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं जो मेरी विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिए प्रधानता से कहूँगा, क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है। (19)
हे अर्जुन ! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। (20)
मैं अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ तथा उनचास वायुदेवताओं का तेज और नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा हूँ। (21)
मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और भूतप्राणियों की चेतना अर्थात् जीवन-शक्ति हूँ। (22)
मैं एकादश रूद्रों में शंकर हूँ और यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओं में अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूँ। (23)
पुरोहितों में मुखिया बृहस्पति मुझको जान। हे पार्थ ! मैं सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में समुद्र हूँ। (24)
मैं महर्षियों में भृगु और शब्दों में एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ। सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय पर्वत हूँ। (25)
मैं सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षियों में नारद मुनि, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ। (26)
घोड़ों में अमृत के साथ उत्पन्न होने वाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत नामक हाथी और मनुष्यों में राजा मुझको जान। (27)
मैं शस्त्रों में वज्र और गौओं में कामधेनु हूँ। शास्त्रोक्त रीति से सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव हूँ और सर्पों में सर्पराज वासुकि हूँ। (28)
मैं नागों में शेषनाग और जलचरों का अधिपति वरुण देवता हूँ और पिंजरों में अर्यमा नामक पितर तथा शासन करने वालों में यमराज मैं हूँ। (29)
मैं दैत्यों में प्रह्लाद और गणना करने वालों का समय हूँ तथा पशुओं में मृगराज सिंह और पक्षियों में मैं गरुड़ हूँ। (30)

मैं पवित्र करने वालों में वायु और शस्त्रधारियों में श्रीराम हूँ तथा मछलियों में मगर हूँ और नदियों में श्रीभागीरथी गंगाजी हूँ। (31)
 हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करने वालों का तत्त्व-निर्णय के लिए किया जाने वाला वाद हूँ। (32)
 मैं अक्षरों में अकार हूँ और समासों में द्वन्द्व नामक समास हूँ। अक्षयकाल अर्थात् काल का भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला, विराटस्वरूप, सबका धारण-पोषण करने वाला भी मैं ही हूँ। (33)
 मैं सबका नाश करने वाला मृत्यु और उत्पन्न होने वालों का उत्पत्ति हेतु हूँ तथा स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ। (34)
 तथा गायन करने योग्य श्रुतियों में मैं बृहत्साम और छन्दों में गायत्री छन्द हूँ तथा महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त मैं हूँ। (36)
 मैं छल करने वालों में जुआ और प्रभावशाली पुरुषों का प्रभाव हूँ। मैं जीतने वालों का विजय हूँ, निश्चय करने वालों का निश्चय और सात्त्विक पुरुषों का सात्त्विक भाव हूँ। (36)
 वृष्णिवंशियों में वासुदेव अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवों में धनंजय अर्थात् तू, मुनियों में वेदव्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ। (37)
 मैं दमन करने वालों का दण्ड अर्थात् दमन करने की शक्ति हूँ, जीतने की इच्छावालों की नीति हूँ, गुप्त रखने योग्य भावों का रक्षक मौन हूँ और ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ। (38)
 और हे अर्जुन ! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो। (39)
 हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियों का यह विस्तार तो तेरे लिए एकदेश से अर्थात् संक्षेप से कहा है। (40)
 जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस उसको तू मेरे तेज के अंश की ही अभिव्यक्ति जान। (41)
 अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत को अपनी योगशक्ति के एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूँ। (42)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में 'विभूतियोग' नामक दसवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

ग्यारहवां अध्याय: विश्वरूप दर्शन योग

विश्वरूप के दर्शन हेतु अर्जुन की प्रार्थना

अर्जुन बोले

मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है। (1)
 क्योंकि हे कमलनेत्र ! मैंने आपसे भूतों की उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है। (2)
 हे परमेश्वर ! आप अपने को जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है परन्तु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से युक्त ऐश्वर्यमय-रूप को मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। (3)
 हे प्रभो ! यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है – ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर ! उस अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये। (4)

भगवान् द्वारा अपने विश्व रूप का वर्णन

श्री भगवान् बोले

हे पार्थ ! अब तू मेरे सैंकड़ों-हजारों नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा नाना आकृति वाले अलौकिक रूपों को देख। (5)
 हे भरतवंशी अर्जुन ! तू मुझमें आदित्यों को अर्थात् अदिति के द्वादश पुत्रों को, आठ वसुओं को, एकादश रुद्रों को, दोनों अश्विनीकुमारों को और उनचास मरुदगणों को देख तथा और भी बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देख। (6)
 हे अर्जुन ! अब इस मेरे शरीर में एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है सो देख। (7)

परन्तु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निःसंदेह समर्थ नहीं है। इसी से मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ। इससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख। (8)

संजय द्वारा धृतराष्ट्र के प्रति विश्वरूप का वर्णन

संजय बोले

हे राजन ! महायोगेश्वर और सब पापों के नाश करने वाले भगवान ने इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुन को परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया। अनेक मुख और नेत्रों से युक्त, अनेक अदभुत दर्शनोंवाले, बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त और बहुत से दिव्य शस्त्रों को हाथों में उठाये हुए, दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए और दिव्य गन्ध का सारे शरीर में लेप किये हुए, सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराटस्वरूप परमदेव परमेश्वर को अर्जुन ने देखा। (9,10,11)

आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदय होने से उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित् ही हो। (12)

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त अर्थात् पृथक-पृथक, सम्पूर्ण जगत को देवों के देव श्रीकृष्ण भगवान के उस शरीर में एक जगह स्थित देखा। (13)

उसके अनन्तर वे आश्चर्य से चकित और पुलकित शरीर अर्जुन प्रकाशमय विश्वरूप परमात्मा को श्रद्धा-भक्तिसहित सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले। (14)

अर्जुन द्वारा भगवान के विश्वरूप का देखा जाना और उनकी स्तुति करना

अर्जुन बोले

हे देव ! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को तथा अनेक भूतों के समुदायों को कमल के आसन पर विराजित ब्रह्मा को, महादेव को और सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ। (15)

हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामिन् ! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूँ। हे विश्वरूप ! मैं आपके न तो अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही। (16)

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओर से प्रकाशमान तेज के पुंज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योतिर्युक्त, कठिनाता से देखे जाने योग्य और सब ओर से अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ। (17)

आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्म के रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं। ऐसा मेरा मत है। (18)

आपको आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेज से इस जगत को संतप्त करते हुए देखता हूँ। (19)

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं तथा आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक अति व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं। (20)

वे ही देवताओं के समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणों का उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धों के समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं। (21)

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुदगण और पितरों का समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय हैं – वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं। (22)

हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रों वाले, बहुत हाथ, जंघा और पैरों वाले, बहुत उदरों वाले और बहुत-सी दाढ़ों के कारण अत्यन्त विकराल महान रूप को देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। (23)

क्योंकि हे विष्णो ! आकाश को स्पर्श करने वाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णों युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ। (24)

दाढ़ों के कारण विकराल और प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित आपके मुखों को देखकर मैं दिशाओं को नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिए हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हों। (25)

वे सभी धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समुदायसहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं और भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्ष के भी प्रधान योद्धाओं सहित सब के सब आपके दाढ़ों के कारण विकराल भयानक मुखों में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिख रहे हैं। (26,27)

जैसे नदियों के बहुत-से जल के प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्र के सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्र में प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोक के वीर भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। (28)

जैसे पतंग मोहवश नष्ट होने के लिए प्रज्वलित अग्नि में अति वेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अति वेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं। (29)

आप उन सम्पूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रास करते हुए सब ओर से बार-बार चाट रहे हैं। हे विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत को तेज के द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है। (30)

मुझे बतलाइये कि आप उग्र रूप वाले कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। हे आदिपुरुष ! आपको मैं विशेषरूप से जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता। (31)

भगवान द्वारा अपने प्रभाव का वर्णन और अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित करना

श्री भगवान बोले

मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिए जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित योद्धा लोग हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी इन सब का नाश हो जाएगा। (32)

अतएव तू उठ। यश प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से सम्पन्न राज्य को भोग। ये सब शूरवीर पहले ही से मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा। (33)

द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओं को तू मार। भय मत कर। निःसन्देह तू युद्ध में वैरियों को जीतेगा। इसलिए युद्ध कर। (34)

भयभीत हुए अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति और चतुर्भुज रूप का दर्शन कराने के लिए प्रार्थना

संजय बोले

केशव भगवान के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपता हुआ नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके भगवान श्रीकृष्ण के प्रति गदगद वाणी से बोले:। (35)

अर्जुन बोले

हे अन्तर्यामिन ! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभाव के कीर्तन से जगत अति हर्षित हो रहा है और अनुराग को भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षस लोग दिशाओं में भाग रहे हैं और सब सिद्धगणों के समुदाय नमस्कार कर रहे हैं। (36)

हे महात्मन् ! ब्रह्मा के भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिए वे कैसे नमस्कार न करें, क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो संत, असत्, और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हैं, वह आप ही हैं। (37)

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप इस जगत के परम आश्रय और जानने वाले तथा जानने योग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है। (38)

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। आपके लिए हजारों बार नमस्कार ! नमस्कार हो ! आपके लिए फिर भी बार-बार नमस्कार! नमस्कार !! (39)

हे अनन्त सामर्थ्य वाले ! आपके लिए आगे से और पीछे से भी नमस्कार ! हे सर्वात्मन्! आपके लिए सब ओर से नमस्कार हो क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप समस्त संसार को व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं। (40)

आपके इस प्रभाव को न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं, ऐसा मानकर प्रेम से अथवा प्रमाद से भी मैंने 'हे कृष्ण !', 'हे यादव !', 'हे सखे !', इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे समझे हठात् कहा है और हे अच्युत ! आप जो मेरे द्वारा विनोद के लिए विहार, शय्या, आसन और भोजनादि में अकेले अथवा उन सखाओं के सामने भी अपमानित किये गये हैं – वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ। (41,42)

आप इस चराचर जगत के पिता और सबसे बड़े गुरु तथा अति पूजनीय हैं। हे अनुपम प्रभाव वाले! तीनों लोकों में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है। (43)

अतएव हे प्रभो ! मैं शरीर को भलीभाँति चरणों में निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वर को प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के और पति जैसे प्रियतमा पत्नी के अपराध सहन करते हैं – वैसे ही आप भी मेरे अपराध सहन करने योग्य हैं। (44)

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्य रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भय से अति व्याकुल भी हो रहा है, इसलिए आप उस अपने चतुर्भुज विष्णुरूप को ही मुझे दिखलाइये ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये। (45)

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथ में लिए हुए देखना चाहता हूँ, इसलिए हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूप से प्रकट होइये। (46)

भगवान् द्वारा अपने विश्वरूप के दर्शन की महिमा का कथन तथा चतुर्भुज और सौम्य रूप का दिखाया जाना

श्रीभगवान् बोले

हे अर्जुन ! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्ति के प्रभाव से यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसी ने नहीं देखा था। (47)

हे अर्जुन ! मनुष्यलोक में इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञों के अध्ययन से, न दान से, न क्रियाओं से और न उग्र तपों से ही तेरे अतिरिक्त दूसरे के द्वारा देखा जा सकता हूँ। (48)

मेरे इस प्रकार के इस विकराल रूप को देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिए और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिए। तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे शंख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूप को फिर देख। (49)

संजय बोले

संजय बोले: वासुदेव भगवान् ने अर्जुन के प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूप को दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्ण ने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुन को धीरज बंधाया। (50)

बिना अनन्य भक्ति के चतुर्भुज रूप के दर्शन की दुर्लभता का और फलसहित अनन्य भक्ति का कथन

अर्जुन बोले

हे जनार्दन ! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूप को देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ। (51)

श्री भगवान् बोले

मेरा जो चतुर्भुज रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा करते रहते हैं। (52)

जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है – इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न तो वेदों से, न तप से, न दान से, और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ। (53)

परन्तु हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्ति के द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए तत्त्व से जानने के लिए तथा प्रवेश करने के लिए अर्थात् एकीभाव से प्राप्त होने के लिए भी शक्य हूँ। (54)

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिए सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को करने वाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियों में वैरभाव से रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है। (55)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

बारहवाँ अध्याय: भक्ति योग

साकार और निराकार के उपासकों की उत्तमता का निर्णय और भगवत्प्राप्ति के उपाय का विषय

अर्जुन बोले

जो अनन्य प्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकार निरन्तर आपके भजन ध्यान में लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वर को और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म को ही अति श्रेष्ठ भाव से भजते हैं – उन दोनों प्रकार के उपासकों में अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं? (1)

श्री भगवान् बोले

मुझमें मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वर को भजते हैं, वे मुझको योगियों में अति उत्तम योगी मान्य हैं। (2)

परन्तु जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भली प्रकार वश में करके मन बुद्धि से परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहने वाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतों के हित में रत और सब में समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं। उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त

चित्तवाले पुरुषों के साधन में परिश्रम विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त-विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है। (3,4,5)

परन्तु जो मेरे परायण रहने वाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझे अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वर को ही अनन्य भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं। हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ। (6,7)

मुझमें मन को लगा और मुझमें ही बुद्धि को लगा। इसके उपरान्त तू मुझमें निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। (8)

यदि तू मन को मुझमें अचल स्थापन करने के लिए समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप योग के द्वारा मुझको प्राप्त होने के लिए इच्छा कर। (9)

यदि तू उपर्युक्त अभ्यास में भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा। (10)

यदि मेरी प्राप्ति रूप योग के आश्रित होकर उपर्युक्त साधन को करने में भी तू असमर्थ है तो मन बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करने वाला होकर सब कर्मों के फल का त्याग कर। (11)

मर्म को न जानकर किये हुए अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से मुझ परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है। (12)

भगवत्-प्राप्त पुरुषों के लक्षण

जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देने वाला है, तथा जो योगी निरन्तर सन्तुष्ट है, मन इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए हैं और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है – वह मुझमें अर्पण किये हुए मन -बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है। (13,14)

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि से रहित है – वह भक्त मुझको प्रिय है। (15)

जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध, चतुर, पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है – वह सब आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है। (16)

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है – वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है। (17)

जो शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम है और आसक्ति से रहित है। जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है – वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान पुरुष मुझको प्रिय है। (18,19)

परन्तु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्काम प्रेमभाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं। (20)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

तेरहवां अध्याय: क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग

ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विषय

श्री भगवान बोले

हे अर्जुन ! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नाम से कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस नाम से उनके तत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजन कहते हैं। (1)

हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को अर्थात् विकारसहित प्रकृति का और पुरुष का जो तत्त्व से जानना है, वह ज्ञान है – ऐसा मेरा मत है। (2)

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारों वाला है और जिस कारण से जो हुआ है तथा क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है – वह सब संक्षेप में मुझसे सुन। (3)

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है और विविध वेदमंत्रों द्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भली भाँति निश्चय किए हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी कहा गया है। (4)

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, स्थूल देह का पिण्ड, चेतना और धृति – इस प्रकार विकारों के सहित यह क्षेत्र संक्षेप से कहा गया। (5,6)

श्रेष्ठता के ज्ञान का अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, किसी प्राणी को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदि की सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीर का निग्रह। इस लोक और परलोक सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख और दोषों का बार-बार विचार करना। पुत्र, स्त्री, घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना। मुझ परमेश्वर में अनन्य योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना। अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना – यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है – ऐसा कहा है। (7,8,9,10,11)

जो जानने योग्य हैं तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादि वाला परब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही। (12)

वह सब ओर हाथ पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर ओर मुख वाला तथा सब ओर कान वाला है क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है। (13)

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है, परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है तथा आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है। (14)

वह चराचर सब भूतों के बाहर भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर भी वही है और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर में भी वही स्थित है। (15)

वह परमात्मा विभागरहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण होने पर भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है तथा वह जानने योग्य परमात्मा के विष्णुरूप से भूतों को धारण-पोषण करने वाला और रुद्ररूप से संहार करने वाला तथा ब्रह्मरूप से सबको उत्पन्न करने वाला है। (16)

वह परब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति और माया से अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जानने के योग्य तथा तत्त्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदय में विशेषरूप से स्थित है। (17)

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप से कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्त्व से जानकर मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। (18)

ज्ञानरहित प्रकृति-पुरुष का विषय

प्रकृति और पुरुष – इन दोनों को ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न जान। (19)

कार्य और करण को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखों के भोक्तापन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है। (20)

प्रकृति में स्थित ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा का अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है। (21)

इस देह में स्थित वह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वही साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा-ऐसा कहा गया है। (22)

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से जानता है, वह सब प्रकार से कर्तव्यकर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता। (23)

उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं। अन्य कितने ही ज्ञानयोग के द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोग के द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं। (24)

परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धि वाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से अर्थात् तत्त्व के जानने वाले पुरुषों से सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार सागर को निःसंदेह तर जाते हैं। (25)

हे अर्जुन ! यावन्मात्र जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न जान। (26)

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में परमेश्वर को नाशरहित और समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है। (27)

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभाव से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता, इससे वह परम गति को प्राप्त होता है। (28)

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है। (29)

जिस क्षण यह पुरुष भूतों पृथक्-पृथक् भाव को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। (30)

हे अर्जुन ! अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। (31)

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता। (32)

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। (33)

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा कार्यसहित प्रकृति से मुक्त होने का जो पुरुष ज्ञान-नेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। (34)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

चौदहवाँ अध्याय: गुणत्रयविभागयोग

ज्ञान की महिमा और प्रकृति-पुरुष से जगत् की उत्पत्ति

श्री भगवान् बोले

ज्ञानों में भी अति उत्तम उस परम ज्ञान को मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं। (1)

इस ज्ञान को आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकाल में भी व्याकुल नहीं होते। (2)

हे अर्जुन ! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतन समुदायरूप को स्थापन करता हूँ। उस जड़-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। (3)

हे अर्जुन ! नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करने वाली माता है और मैं बीज का स्थापन करने वाला पिता हूँ। (4)

सत्, रज, तम- तीनों गुणों का विषय

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण – ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं। (5)

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणों में सत्त्वगुण तो निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला और विकार रहित है, वह सुख के सम्बन्ध से और ज्ञान के सम्बन्ध से अर्थात् अभिमान से बाँधता है। (6)

हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न जान। वह इस जीवात्मा को कर्मों के और उनके फल के सम्बन्ध से बाँधता है। सब देहाभिमानियों को मोहित करने वाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न जान। वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है। (7,8)

हे अर्जुन ! सत्त्व गुण सुख में लगाता है और रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण तो ज्ञान को ढककर प्रमाद में लगाता है। (9)

हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण होता है अर्थात् बढ़ता है। (10)

जिस समय इस देह में तथा अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिए सत्त्वगुण बढ़ा है। (11)

हे अर्जुन ! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धि से कर्मों का सकामभाव से आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगों की लालसा – ये सब उत्पन्न होते हैं। (12)

हे अर्जुन ! तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण व इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् वयर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरण की मोहिनी वृत्तियाँ – ये सभी उत्पन्न होते हैं। (13)

जब यह मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करने वालों के निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है। (14)

रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है, तथा तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है। (15)

श्रेष्ठ कर्म का तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है। राजस कर्म का फल दुःख तथा तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है। (16)

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निःसंदेह लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है। (17)

सत्त्वगुण में स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं, रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य में अर्थात् मनुष्यलोक में ही रहते हैं और तमोगुण के कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादि में स्थित तामस पुरुष अधोगति को अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियों को तथा नरकों को प्राप्त होते हैं। (18)

भगवत्प्राप्ति का उपाय और गुणातीत पुरुष के लक्षण

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्मा को तत्त्व से जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। (19)

यह शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप इन तीनों गुणों को उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है। (20)

अर्जुन बोले

इन तीनों गुणों से अतीत पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है और किस प्रकार के आचरणों वाला होता है तथा हे प्रभो ! मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है। (21)

श्री भगवान बोले

हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह को भी न तो प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है। जो साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणों में बरतते हैं – ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है और उस स्थिति से कभी विचलित नहीं होता। जो निरन्तर आत्मभाव में स्थित, दुःख-सुख को समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रिय को एक-सा मानने वाला और अपनी निन्दा स्तुति में भी समान भाववाला है। जो मान और अपमान में सम है, मित्र और वैरी के पक्ष में भी सम है तथा सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है। (22,23,24,25)

और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणों को भली भाँति लौंघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होने के लिए योग्य बन जाता है। (26)

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्म का और अमृत का तथा नित्यधर्म का और अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय मैं हूँ। (27)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

पन्द्रहवाँ अध्यायः पुरुषोत्तम योग

संसार वृक्ष का कथन और भगवत्प्राप्ति का उपाय

श्री भगवान बोले

आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले जिस संसाररूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं, तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं – उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष मूलसहित तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।

(1)

उस संसार वृक्ष की तीनों गुणोंरूप जल के द्वारा बढ़ी हुई और विषय-भोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोक में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली अहंता-ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं। (2)

इस संसार वृक्ष का स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकाल में नहीं पाया जाता, क्योंकि न तो इसका आदि है और न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकार से स्थिति ही है। इसलिए इस अहंता-ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलों वाले संसाररूप पीपल के वृक्ष को वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा काटकर। उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वर को भली भाँति खोजना चाहिए, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसार में नहीं आते और जिस परमेश्वर से इस पुरातन संसार-वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायण के मैं शरण हूँ – इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वर का मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। (3,4)

जिसका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूप से नष्ट हो गयी हैं- वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं। (5)

जिस परम पद को प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसार में नहीं आते, उस स्वयं प्रकाश परम पद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और अग्नि ही। वही मेरा परम धाम है। (6)

जीवात्मा का विषय

इस देह में यह सनातन जीवात्मा मेरा अंश है और वही इस प्रकृति में स्थित मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है। (7)

वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादि का स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीर का त्याग करता है, उससे इस मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है- उसमें जाता है। (8)

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचा को तथा रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके- अर्थात् इन सबके सहारे से ही विषयों का सेवन करता है। (9)

शरीर को छोड़कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित हुए को अथवा विषयों को भोगते हुए को इस प्रकार तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्व से जानते हैं। (10)

यत्न करने वाले योगीजन भी अपने हृदय में स्थित इस आत्मा को तत्त्व से जानते हैं किन्तु जिन्होंने अपने अन्तःकरण को शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहने पर भी इस आत्मा को नहीं जानते। (11)

प्रभाव सहित परमेश्वर के स्वरूप का विषय

सूर्य में स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है- उसको तू मेरा ही तेज जान। (12)

और मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण औषधियों को अर्थात् वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ। (13)

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थिर रहने वाला प्राण और अपान से संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ। (14)

मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूँ तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ। (15)

क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम का विषय

इस संसार में नाशवान और अविनाशी भी ये दो प्रकार के पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियों के शरीर तो नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है। (16)

इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है तथा अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा- इस प्रकार कहा गया है। (17)

क्योंकि मैं नाशवान जड़वर्ग क्षेत्र से सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। (18)

भारत ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्व से पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वर को ही भजता है। (19)

हे निष्ठाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान और कृतार्थ हो जाता है। (20)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

सोलहवां अध्यायः दैवासुर संपत्तिभाग योग

फलसहित दैवी और आसुरी संपदा का कथन

श्री भगवान् बोले

भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण और वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन तथा भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्मपालन के लिए कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता। मन, वाणी और शरीर में किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध का न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तःकरण की उपरति अर्थात् चित्त की चंचलता का अभाव, किसी की निन्दा न करना, सब भूत प्राणियों में हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव। तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर की शुद्धि तथा किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव – ये सब तो हे अर्जुन ! दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं। (1,2,3)

हे पार्थ ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी- ये सब आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं। (4)

दैवी-सम्पदा मुक्ति के लिए और आसुरी सम्पदा बाँधने के लिए मानी गयी है। इसलिए हे अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुआ है। (5)

आसुरी संपदा वालों के लक्षण और उनकी अधोगति का कथन

हे अर्जुन ! इस लोक में भूतों की सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकार का है: एक तो दैवी प्रकृति वाला और दूसरा आसुरी प्रकृति वाला। उनमें से दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य-समुदाय को भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन। (6)

आसुर स्वभाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति- इन दोनों को ही नहीं जानते। इसलिए उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है। (7)

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वर के, अपने-आप केवल स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है। इसके सिवा और क्या है? (8)

इस मिथ्या ज्ञान को अवलम्बन करके जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करने वाले क्रूरकर्म मनुष्य केवल जगत के नाश के लिए ही समर्थ होते हैं। (9)

वे दम्भ, मान और मद से युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर, अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणों को धारण करके संसार में विचरते हैं। (10)

तथा वे मृत्यु पर्यन्त रहने वाली असंख्य चिन्ताओं का आश्रय लेने वाले, विषयभोगों के भोगने में तत्पर रहने वाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार मानने वाले होते हैं। वे आशा की सैंकड़ों फाँसियों में बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोध के परायण होकर विषय भोगों के लिए अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। (11,12)

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथ को प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जायेगा। वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओं को भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ। मैं सब सिद्धियों से युक्त हूँ और बलवान तथा सुखी हूँ। मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञान से मोहित रहने वाले तथा अनेक प्रकार से भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जाल से समावृत और विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त आसुर लोग महान अपवित्र नरक में गिरते हैं। (13,14,15,16)

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ मानने वाले घमण्डी पुरुष धन और मान के मद से युक्त होकर केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं। (17)

वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के परायण और दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामि से द्वेष करने वाले होते हैं। (18)

उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्म नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में डालता हूँ। (19)

हे अर्जुन ! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर ही जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गति को प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकों में पड़ते हैं। (20)

शास्त्रविपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्रानुकूल आचरणों के लिए प्रेरणा

काम, क्रोध तथा लोभ- ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले अर्थात् उसको अधोगति में ले जाने वाले हैं। अतएव इन तीनों को त्याग देना चाहिए। (21)

हे अर्जुन ! इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है, इससे वह परम गति को जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है। (22)

जो पुरुष शास्त्रविधि को त्यागकर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परम गति को और न सुख को ही। (23)

इससे तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधि से नियत कर्म ही करने योग्य है। (24)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में दैवासुरसंपद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

सत्रहवाँ अध्याय: श्रद्धात्रय विभाग योग

श्रद्धा और शास्त्रविपरीत घोर तप करने वालों का विषय

अर्जुन बोले

हे कृष्ण ! जो शास्त्रविधि छोड़कर (केवल) श्रद्धायुक्त होकर पूजा करते हैं, उनकी स्थिति कैसी होती है? सात्त्विक, राजसी या तामसी? (1)

श्री भगवान् बोले

मनुष्यों की वह शास्त्रीय संस्कारों से रहित केवल स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी – ऐसे तीनों प्रकार की ही होती है। उसको तू मुझसे सुन। (2)

हे भारत ! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है। (3)

सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं। (4)

जो मनुष्य शास्त्रविधि से रहित केवल मनःकल्पित घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहंकार से युक्त तथा कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं। जो शरीररूप से स्थित भूतसमुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुर-स्वभाव वाले जान। (5,6)

आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक्-पृथक् भेद

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके इस पृथक्-पृथक् भेद को तू मुझसे सुन। (7)

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय – ऐसे आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं। (8)

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं। (9)

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है। (10)

जो शास्त्रविधि से नियत यज्ञ करना ही कर्तव्य है – इस प्रकार मन को समाधान करके, फल न चाहने वाले पुरुषों द्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है। (11)

परन्तु हे अर्जुन ! केवल दम्भाचरण के लिए अथवा फल को भी दृष्टि में रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान।

शास्त्रविधि से हीन, अन्नदान से रहित, बिना मंत्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किये जाने वाले यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं। (13)

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा – शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है। (14)
जो उद्वेग ने करने वाला, प्रिय और हितकारक व यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रों के पठन का एवं परमेश्वर के नाम-जप का अभ्यास है- वही वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है। (15)

मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवद् चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों को भली भाँति पवित्रता – इस प्रकार यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है। (16)

फल को न चाहने वाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं। (17)
जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिए भी स्वभाव से या पाखण्ड से किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है। (18)

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से, मन वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है वह तप तामस कहा गया है। (19)

दान देना ही कर्तव्य है – ऐसे भाव से जो दान देश तथा काल और पात्र के प्राप्त होने पर उपकार न करने वाले के प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है। (20)

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टि में रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है। (21)

जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-काल में कुपात्र के प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है। (22)

ॐ तत् सत् के प्रयोग की व्याख्या

ॐ, तत्, सत्, - ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है: उसी से सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये। (23)

इसलिए वेद-मन्त्रों का उच्चारण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्रविधि से नियत यज्ञ, दान और तपस्वरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती है। (24)

तत् अर्थात् 'तत्' नाम से कहे जाने वाले परमात्मा का ही यह सब है – इस भाव से फल को न चाह कर नाना प्रकार की यज्ञ, तपस्वरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याण की इच्छावाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं। (25)

'सत्' – इस प्रकार यह परमात्मा का नाम सत्यभाव में और श्रेष्ठभाव में प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्म में भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। (26)

तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्मा के लिए किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत् – ऐसे कहा जाता है। (27)

हे अर्जुन ! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान व तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है – वह समस्त 'असत्' – इस प्रकार कहा जाता है, इसलिए वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के बाद ही। (28)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।

अठारहवाँ अध्याय: मोक्ष संन्यास योग

त्याग का विषय

अर्जुन बोले

हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक-पृथक जानना चाहता हूँ। (1)

श्री भगवान् बोले

कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। (2)

कुछेक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त है, इसलिए त्यागने के योग्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपस्वरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। (3)

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग, इन दोनों में से पहले त्याग के विषय में तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। (4)

यज्ञ, दान और तपस्वरूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं हैं, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप – ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं। (5)

इसलिए हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपस्वरूप कर्मों को तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को आसक्ति और फलों का त्याग करके अवश्य करना चाहिए; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। (6)

(निषिद्ध और काम्य कर्मों का तो स्वरूप से त्याग करना उचित ही है।) परन्तु नियत कर्म का स्वरूप से त्याग उचित नहीं है। इसलिए मोह के कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है। (7)

जो कुछ कर्म है, वह सब दुःस्वरूप ही है, ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेश के भय से कर्तव्य-कर्मों का त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्याग के फल को किसी प्रकार भी नहीं पाता। (8)

हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है – इसी भाव से आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है वही सात्त्विक त्याग माना गया है। (9)

जो मनुष्य अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता – वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है। (10)

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्य के द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग किया जाना शक्य नहीं है इसलिए जो कर्मफल का त्यागी है, वही त्यागी है – यह कहा जाता है। (11)

कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों के कर्मों का तो अच्छा-बुरा और मिला हुआ – ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् अवश्य होता है, किन्तु कर्मफल का त्याग कर देने वाले मनुष्यों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता। (12)

कर्मों के होने में सांख्यसिद्धांत का कथन

हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के ये पाँच हेतु कर्मों का अन्त करने के लिए उपाय बतलाने वाले सांख्यशास्त्र में कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भली भाँति जान। (13)

इस विषय में अर्थात् कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के करण और नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव है। (14)

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है – उसके ये पाँचों कारण हैं। (15)

परन्तु ऐसा होने पर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में यानी कर्मों के होने में केवल शुद्धस्वरूप आत्मा को कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता। (16)

जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लेपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मरता है और न पाप से बँधता है। (17)

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय – ये तीन प्रकार की कर्म-प्रेरणा हैं और कर्ता, करण तथा क्रिया ये तीन प्रकार का कर्म संग्रह है। (18)

तीनों गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के पृथक-पृथक भेद

गुणों की संख्या करने वाले शास्त्र में ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भली भाँति सुन। (19)

जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक-पृथक सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभागरहित समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान। (20)

किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को अलग-अलग जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान। (21)

परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्ण के सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थ से रहित और तुच्छ है – वह तामस कहा गया है। (22)

जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित हो तथा फल न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष के किया गया हो – वह सात्त्विक कहा जाता है। (23)

परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगों को चाहने वाले पुरुष द्वारा या अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है। (24)

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है। (25)

जो कर्ता संगरहित, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष-शोकादि विकारों से रहित है – वह सात्त्विक कहा जाता है। (26)

जो कर्ता आसक्ति से युक्त, कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिप्त है – वह राजस कहा गया है। (27)

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षा से रहित, घमंडी, धूर्त और दूसरों की जीविका का नाश करने वाला तथा शोक करने वाला, आलसी और दीर्घसूत्री है – वह तामस कहा जाता है। (28)

हे धर्नंजय ! अब तू बुद्धि का और धृति का भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार का भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णता से विभागपूर्वक कहा जाने वाला सुन। (29)

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को यथार्थ जानती है – वह बुद्धि सात्त्विकी है। (30)

हे पार्थ ! मनुष्य जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है। (31)

हे अर्जुन ! जो तमोगुण से घिरी हुई बुद्धि अधर्म को भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थों को भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है। (32)

हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्ति से मनुष्य ध्यानयोग के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है। (33)

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन ! फल की इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्ति के द्वारा अत्यन्त आसक्ति से धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, वह धारणशक्ति राजसी है। (34)

हे पार्थ ! दृष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्ति के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःख को तथा उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है – वह धारणशक्ति तामसी है। (35)

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकार के सुख को भी तू मुझसे सुन। जिस सुख में साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और जिससे दुःखों के अन्त को प्राप्त हो जाता है – जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकाल में यद्यपि विष के तुल्य प्रतीत होता है, परंतु परिणाम में अमृत के तुल्य है। इसलिए वह परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सुख सात्त्विक कहा गया है। (36, 37)

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह पहले भोगकाल में अमृत के तुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के तुल्य है, इसलिए वह सुख राजस कहा गया है। (38)

जो सुख भोगकाल में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है – वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है। (39)

पृथ्वी में या आकाश में अथवा देवताओं में तथा इनके सिवा और कहीं भी वह ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो। (40)

फल सहित वर्ण धर्म का विषय

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं। (41)

अन्तःकरण का निग्रह करना, इन्द्रियों का दमन करना, धर्मपालन के लिए कष्ट सहना, बाहर-भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीर को सरल रखना, वेद, -शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना – ये सब-के-सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। (42)

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामीभाव – ये सब-के-सब ही क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। (43)

खेती, गौपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार – ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है। (44)

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म करके परम सिद्धि को प्राप्त होता, उस विधि को तू सुन। (45)

जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। (46)

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्म कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता। (47)

अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि धुँ से अग्नि की भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त हैं। (48)

ज्ञाननिष्ठा का विषय

सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोग के द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त होता है। (49)

जो कि ज्ञानयोग की परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य सिद्धि को जिस प्रकार से प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार हे कुन्तीपुत्र ! तू संक्षेप में ही मुझसे समझ। (50)

विशुद्ध बुद्धि से युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करने वाला, शब्दादि विषयों का त्याग करके एकान्त और शुद्ध देश का सेवन करने वाला, सात्त्विक धारणशक्ति के द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियों का संयम करके मन, वाणी और शरीर को वश में कर लेने वाला तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके निरन्तर ध्यानयोग के परायण रहने वाला, ममता रहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभिन्नभाव से स्थित होने का पात्र होता है। (51, 52, 53)

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसी के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभावना वाला योगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है। (54)

उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा को, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्व से जान लेता है तथा उस भक्ति से मुझको तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। (55)

भक्ति सहित कर्मयोग का विषय

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त हो जाता है। (56)

सब कर्मों का मन से मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योग को अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो। (57)

उपर्युक्त प्रकार से मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपा से समस्त संकटों को अनायास ही पार कर जायेगा और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को न सुनेगा तो नष्ट हो जायेगा अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट हो जायेगा। (58)

जो तू अहंकार का आश्रय न लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा। (59)

हे कुन्तीपुत्र ! जिस कर्म को तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा। (60)

हे अर्जुन ! शरीररूप यंत्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है। (61)

हे भारत ! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की शरण में जा। उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शान्ति को तथा सनातन परम धाम को प्राप्त होगा। (62)

इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञान को पूर्णतया भलीभाँति विचारकर, जैसे चाहता है वैसे ही कर। (63)

सम्पूर्ण गोपनियों से अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। (64)

हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। (65)

सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान सर्वधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर। (66)

श्री गीताजी का माहात्म्य

तुझे यह गीता रूप रहस्यमय उपदेश किसी भी काल में न तो तपरहित मनुष्य से कहना चाहिए, न भक्ति रहित से और न बिना सुनने की इच्छावाले से ही कहना चाहिए तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है उससे तो कभी नहीं कहना चाहिए। (67)

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्र को मेरे भक्तों से कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा – इसमें कोई सन्देह नहीं। (68)

उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभर में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में होगा भी नहीं। (69)

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संवादरूप गीताशास्त्र को पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा – ऐसा मेरा मत है। (70)

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टि से रहित होकर इस गीताशास्त्र को श्रवण भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर उत्तम कर्म करने वालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा। (71)

हे पार्थ ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्त से श्रवण किया? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?(72)

अर्जुन बोले

हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। (73)

संजय बोले

इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेव के और महात्मा अर्जुन के इस अदभुत रहस्ययुक्त, रोमांचकारक संवाद को सुना। (74)

श्री व्यासजी की कृपा से दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योग को अर्जुन के प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष सुना है। (75)

हे राजन ! भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस रहस्ययुक्त कल्याणकारक और अदभुत संवाद को पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। (76)

हे राजन ! श्री हरि के उस अत्यन्त विलक्षण रूप को भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। (77)

हे राजन ! जहाँ योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है – ऐसा मेरा मत है। (78)

इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ।